'गुरु' का आध्यात्मिक स्वरूप

श्री कन्हैयालाल जी लोढ़ा

गुरु कोई व्यक्ति नहीं, अपितु यह एक तत्त्व है जो ज्ञानादि गुणों के रूप में प्रत्येक व्यक्ति में रहकर उसे प्रकाशित करता है। ज्ञानादि गुण जिसमें होते हैं उसे हम उपचार से गुरु कहते हैं। वह गुरु व्यक्ति के दोषों को दूर करने के लिए तत्पर होता है तथा स्वयं निरभिमान रहता है। वैषयिक सुखों के भोग की इच्छा अज्ञान की द्योतक है। ज्ञान हमें अनित्य, अनात्म, अशुचि एवं दुःख का बोध कराता है एवं यही ज्ञानस्वरूप गुरु प्रत्येक व्यक्ति के लिए कल्याणकारी होता है। गुरु के इस प्रकार के स्वरूप का प्रतिपादन प्रस्तुत आलेख का वैशिष्ट्य है। **-सम्पादक**

गुरुगीता में कहा है-

गुकारस्त्वन्धकारश्च रुकारस्तेज उच्यते।
अज्ञानग्रासकं ब्रह्म गुरुरेव न संशयः।।

अर्थात् 'गु' नाम अन्धकार का है और 'रु' नाम प्रकाश का है। अतः जो अज्ञान रूपी अन्धकार मिटाने का मार्गदर्शन करे, ज्ञान दे, वह गुरु है। अतः ज्ञान ही गुरुतत्त्व है, व्यक्ति नहीं। इसीलिए गुण पूजनीय है, व्यक्ति पूजनीय नहीं। ज्ञान वही दे सकता है, जो ज्ञान वाला है, जिसका अज्ञानान्धकार मिट गया है। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं है, अपितु विपरीत ज्ञान है।

ज्ञान और विवेक में अज्ञान-अन्धकार को दूर करने का सामर्थ्य होता है, अतः ये गुरु हैं। विवेक सभी को स्वतः प्राप्त होता है, क्योंकि यह किसी कर्म का फल नहीं है। नित्यत्व, प्रेम, सुख, सुन्दरत्व में प्रियता एवं द्वेष, दुःख और अशुद्धि में अप्रियता का ज्ञान सभी प्राणियों में स्वाभाविक रूप से होता है। इस प्रकार ज्ञान और विवेक प्राणी को स्वतः प्राप्त हैं। इसके बावजूद इन्द्रिय व मन के विषय-सुख के भोगों में आबद्ध होने से वह उसे स्वयं प्राप्त नहीं कर पाता। फलस्वरूप जो महापुरुष धर्म, स्वभाव और लक्ष्य की ओर ले जाता है अथवा उस महान् लक्ष्य की प्रेरणा देता है, वह 'गुरु' शब्द से व्यवहृत होता है।

जिससे राग-द्वेष मिटे, वह ज्ञान वास्तविक है। जो ऐसा ज्ञान देता है, वीतराग होने का मार्गदर्शन कराता है, वह आध्यात्मिक शिक्षा देने वाला आध्यात्मिक गुरु है। वह शिष्य को दोषों के निवारण का उपाय बताता है। दोषों के निवारण का उपाय वह ही बता सकता है, जो स्वयं निर्दोष है। जो स्वयं दोषी है, वह दोष दूर करने का ज्ञान देता है, किन्तु उसका प्रभाव नहीं होता है। दोष का मिटना ही गुण प्रकट होना है, दुःख से मुक्ति

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पाना है, कल्याण होना है। जहाँ परिपूर्णता है, लेशमात्र भी अभाव नहीं है वहाँ पूर्ण कल्याण है। अभाव का सर्वांश में क्षय होना ही कल्याण है। अभाव से सर्वांश में वह ही मुक्त होता है जो तृष्णा से, कामना से रहित है। तृष्णा से रहित होना ही समस्त दोषों, दुःखों, राग, द्वेष, मोह, अस्मिता, अभिनिवेश आदि क्लेशों से मुक्ति पाना है; यह निर्वाण है। इसे ही वास्तविक कल्याण कहा जा सकता है। जो स्वयं धन-सम्पत्ति, सुख-सुविधा, सत्कार-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा आदि चाहता है वह दूसरों का कल्याण नहीं कर सकता।

'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' के अनुसार सर्वप्रथम सम्यक् ज्ञान होना आवश्यक है। सम्यक् ज्ञान के विपरीत मिथ्याज्ञान है। मिथ्याज्ञान रूप मिथ्यात्व ही समस्त दोषों एवं दुःखों का कारण है। मिथ्यात्व का मूल है - विषय सुखों का भोग। श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन एवं मन के विषय शब्द, रूप, गंध, स्वाद, स्पर्श आदि की अनुकूलता को सुख मानना एवं उस सुख तथा सुख की सामग्री के पदार्थों को नित्य, सुन्दर और अपना मानना ही मिथ्याज्ञान है। कारण कि सभी इन्द्रियजन्य सुख, भोग एवं भोग्य सामग्री प्रतिक्षण क्षीण होकर नष्ट हो जाती है। अतः नश्वर है, अनित्य है, क्षणिक है, विनाशी है। अपने से अलग हो जाने के कारण वह अपने से भिन्न है, पर है, अनित्य है। उनका सुंदरत्व-शुभत्व भी असुंदरत्व-अशुचित्व में बदल जाता है। विषय एवं विषय-सुखों की सामग्री अनित्य, अनात्म एवं अशुचिमय है एवं दुःख रूप है। इसे स्थायी, सुंदर, सुखस्वरूप मानना मिथ्यात्व है। ज्ञान के अनुरूप आचरण न होना, ज्ञान का अनादर है, ज्ञानावरण है। मिथ्यात्व अथवा ज्ञानावरण ही समस्त दोषों, पापों एवं दुःखों का कारण है। ज्ञानावरण कर्म का हेतु ज्ञान का अनादर ही, ज्ञान के विपरीत आचरण करना ही दर्शनावरण आदि समस्त कर्मों के बंधन का हेतु है। इसीलिए आठों कर्मों में इसे सर्वप्रथम स्थान दिया गया है।

समस्त दोषों (पापों), कर्मों एवं दुःखों से मुक्त होने के लिए ज्ञानावरण का क्षय अनिवार्य है। ज्ञानावरण के क्षय के लिए ज्ञान का आदर अनिवार्य है। जिससे ज्ञान का आदर करने की, मिथ्याज्ञान एवं अज्ञान को दूर करने की प्रेरणा जगे, वह ही गुरु है। वास्तविक ज्ञान का आदर न करने से व्यक्ति अपने निज स्वरूप से विमुख होता है। जो मानव 'विषय-सुख क्षणिक, नश्वर तथा दुःख को उत्पन्न करने वाला है' - अपने इस निज ज्ञान का आदर नहीं कर पाता; वह सद्गुरु तथा सद्ग्रन्थ आदि के ज्ञान का भी आदर नहीं कर पाता। निजज्ञान (विवेक), सद्गुरु एवं सद्ग्रन्थ आदि के ज्ञान में एकता है, भिन्नता नहीं। ज्ञान किसी भाषा में आबद्ध नहीं है। भाषा तो जाने हुए ज्ञान के प्रकाशन का माध्यम एवं संकेत मात्र है। अतः किसी भाषा के अर्थ को अपनाने के लिए उस भाषा में निहित अर्थ का प्रभाव अत्यन्त आवश्यक है। यदि किसी ग्रन्थ एवं गुरु की भाषा से वास्तविक ज्ञान का बोध (अनुभव) होता, तो एक ही ग्रन्थ एवं गुरुवाणी के शब्दों के अर्थ में भिन्नता नहीं होती, उसमें मतभेद नहीं होता, मन पर समान प्रभाव पड़ता, परन्तु ऐसा नहीं होता है। आशय यह है कि शब्द कल्प-वृक्ष के समान हैं। इस कारण निज अनुभव के ज्ञान अर्थात् सम्यक् ज्ञान की प्रभा होने पर ही सद्ग्रन्थ या सद्गुरु की वाणी के वास्तविक अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। उस अभिव्यक्ति या अनुभूति के प्रभाव से दोष स्वतः निवृत्त होते हैं

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा कर्त्तव्यपरायणता, निर्भयता, निष्कामता, निरहंकारिता स्वतः प्राप्त होती है। जिससे मानव अपने वास्तविक लक्ष्य, चिर शान्ति, आन्तरिक प्रसन्नता, स्वाधीनता, प्रमुदितता, अमरता की उपलब्धि पाकर कृतकृत्य हो जाता है। अभिप्राय यह है कि जिससे स्वाभाविक व स्वभाव के ज्ञान के आदर में ज्ञान का आवरण हटकर स्वरूप से अभिन्नता होती है, वह ज्ञान जिससे भी अभिव्यक्त हो, वह ही गुरु है।

गुरु का उपदेश, संदेश, आदेश तभी आचरण में आयेगा, जब व्यक्ति निज ज्ञान स्वयंसिद्ध श्रुतज्ञान का आचरण करेगाा। बाहरी कार्यों की शिक्षा देने वाला भी गुरु कहा जाता है। उसके प्रति भी कृतज्ञता होना अच्छी बात है। लेकिन उसका लक्ष्य सांसारिक और भौतिक कार्यो की सिद्धि मात्र है। आध्यात्मिक दृष्टि से गुरु वह है जो लक्ष्य का, निर्विकारता का, दुःख व दोषों से मुक्ति का अनुभव के स्तर पर मार्गदर्शन करा दे। दोष की जड़ तक पहुँचा दें। जिससे श्रुतज्ञान मिले, जो स्वयं निर्दोष है या इस दिशा में तत्पर है, वह ही गुरु है। अतः व्यक्ति का शरीर गुरु नहीं, उसकी सत्यवाणी ही गुरु है। सत्य वह है, जो अविनाशी है।

जैन परम्परा में गुण पूजनीय है, व्यक्ति पूजनीय नहीं है। जैन दर्शन में पाँच नमनीय हैं - अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। ये पाँचों गुणवाचक शब्द हैं। कोई भी व्यक्ति जिसने राग-द्वेष का क्षय कर दिया है, वह अरिहन्त है; जो शरीर और संसार से मुक्त है, वह सिद्ध है; जो पंचाचार का पालन करते और करवाते हैं, वे आचार्य हैं; जो शिक्षा देते हैं, वे उपाध्याय हैं तथा जो संयम का पालन करते हैं, वे साधु हैं। ये पाँचों पद किसी सम्प्रदाय, वर्ग, जाति, दार्शनिक मान्यता, क्रिया-काण्ड आदि से सम्बन्धित नहीं हैं और न ही किसी व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित हैं। इनका सम्बन्ध गुणों से है। जिससे भी दोष दूर करने, निर्दोष होने की प्रेरणा मिले, वे सब गुरु हैं। इस प्रकार गुरु व्यक्ति नहीं होकर ज्ञान होता है। गुरु निर्ग्रन्थ होता है । वह ग्रन्थि अर्थात् परिग्रहरहित होता है । वह दया-अनुकम्पा स्वरूप धर्म का उपदेश देता है । इस उपदेश का आचरण ही गुरु का आदर करना है । यह धर्म मंगलमय एवं कल्याणकारी होता है ।

इन पाँच पदों में अरिहन्त और सिद्ध वीतराग और निर्दोष होने के कारण तथा स्वाभाविक दिव्य गुणों के धारक होने से देव हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु सरागी और सदोष हैं तथा सर्व दुःखों से मुक्त होने के लिए राग-द्वेष आदि दोषों को जीतने हेतु साधनारत हैं। इनका व्यक्तित्व आंशिक दोषों से युक्त है। जो व्यक्ति रागी होता है, उसका आंशिक राग निमित्त पाकर भयंकर दोष में बदल सकता है। जैसा कि प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के उदाहरण से ज्ञात होता है। अतः व्यक्ति नहीं, गुण ही नमन-योग्य व वन्दनीय होता है। गुण स्वभावरूप होने से पूजनीय व सम्माननीय होता है। अतः इनके व्यक्तित्व में आंशिक निर्दोषता व आंशिक स्वाभाविकता गुण ही पूजनीय और वन्दनीय है। इन गुणों की अभिव्यक्ति का ज्ञान ही गुरुतत्त्व है और वह साधक के लिए ग्राह्य व उपादेय है।

सभी को स्वभाव से नित्यत्व, अपनत्व (प्रेम), सुख और सुन्दरत्व पसंद है; किसी को विनाश, द्वेष, दुःख और अशुद्धि इष्ट नहीं है। परन्तु जो इस निजज्ञान का आदर नहीं करके; परिवर्तनशील व नश्वर शरीर,

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

संसार, इन्द्रियों के भोग्य पदार्थ आदि का आदर करता है, वह स्थायी सुख नहीं प्राप्त कर सकता है। अस्थायी सुख का वियोग अवश्यंभावी है, वह पर है, उस सुख का अंत दुःख में होता है तथा वह पर पदार्थों पर निर्भर है।

बाहरी सुखों को नित्य, सुखद और सुन्दर मानकर भोग करना अज्ञान है, अविद्या है। पातंजल योगसूत्र में कहा है :- ''अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या'' अर्थात् अनित्य, अशुचि, दुःख एवं अनात्म में क्रमशः नित्य, उत्तम, सुन्दर, सुख तथा आत्मभाव का अनुभव होना अविद्या है, अज्ञान है। जैन धर्म में धर्म-ध्यान की चार भावनाओं - अनित्य, अशरण, एकत्व एवं अशुचि भावना में इसी तथ्य को व्यक्त किया गया है। आशय यह है कि जो शरीर में, इन्द्रियों के भोग्य पदार्थों में, भोगों में जीवन मानता है, वह अज्ञानी है, मिथ्यात्वी है।

वीतराग भगवान को छोड़कर कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जिसमें दोष नहीं हो। यदि व्यक्ति में दोष नहीं होता, सर्वांश में निर्दोष होता तो वह भगवान ही होता। कोई भी व्यक्ति पूर्ण रूप से दोषी भी नहीं होता है। यदि पूर्ण दोषी होता तो स्वभाव नष्ट हो जाता और उसका अस्तित्व नहीं रहता। अतः प्रत्येक साधारण व्यक्ति में आंशिक गुण और आंशिक दोष होता है। उस आंशिक दोष में हानि-वृद्धि होती रहती है। जब तक आंशिक दोष का बीज है, वह बीज बढ़कर कभी भी वृक्ष का रूप धारण कर सकता है।

यह नियम है कि दोष करने से होता है, अतः कृत्रिम होता है; दोष का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वह हमारा किया हुआ अथवा माना हुआ होता है। अतः दोष अस्वाभाविक होता है, इसलिए वह मिटाया जा सकता है। इसके विपरीत गुण स्वाभाविक होता है। वह किसी क्रिया या कर्म का फल नहीं होता है, अतः सदैव ज्यों का त्यों रहता है। भले ही आवरण आ जाने से, विस्मृति हो जाने से या अपहरण हो जाने से वह प्रकट नहीं हो अथवा न्यूनाधिक रूप में प्रकट हो। इसलिए जो चेतना का स्वभाव है, वह ही साधक का साध्य या लक्ष्य है, उसका पूर्ण प्रकट हो जाना ही स्वरूप में अवस्थित होना है। सिद्धावस्था उसी का नाम है।

ज्ञान-दर्शन गुण का अनादर ही ज्ञान-दर्शन गुण पर आवरण आना है। मोह के कारण सम्यक् स्वरूप एवं स्वरूपाचरण गुण की विस्मृति होती है। गुणों के अपहरण तथा विमुखता से दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं वीर्य (औदार्य, ऐश्वर्य, सौन्दर्य, माधुर्य एवं सामर्थ्य) गुण दूर प्रतीत होते हैं, किन्तु वे नष्ट नहीं होते हैं। जो गुणवान है, उसके गुण ही पूजनीय है; शरीर पूजनीय नहीं हैं। जो गुण प्रकट करने की प्रेरणा देता है एवं मार्ग या उपाय बताता है, वह गुरु है। गुरु किसी भी साधक का दोष दूरकर गुण प्रकट नहीं करता है। यह कार्य या पुरुषार्थ साधक को स्वयं ही करना होता है। गुण स्वभावरूप होने से महिमावन्त एवं पूजनीय होते हैं। गुरु का शरीर पूजनीय नहीं होता है।

गुरु वह है जो अपने समस्त दोषों एवं दुःखों से मुक्ति दिला दे। कबीर के शब्दों में -

गुरु गोविंद दोनों खड़े, किसके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरुदेव की, गोविंद दियो मिलाय।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अभिप्राय यह है कि गुरुदेव को धन्य है जो गोविन्द (परमात्मा) से मिला देता है। गोविन्द वह है जो समस्त दुःखों एवं दोषों से मुक्त है। अर्थात् जो समस्त दुःखों और दोषों से मुक्ति पाने का मार्ग बता दे, वह ही गुरु है। जिसके साथ गोविन्द खड़ा न हो, वह गुरु नहीं है। सच्चा गुरु शिष्य का सम्बन्ध अपने से तोड़कर परमात्मा से जोड़ता है।

गुरु का आदर करना शिष्य के लिए हितकारी है। गुणों को धारण करना ही गुरु का आदर है। गुरु का वचन या कथन नहीं मानना गुरु का अनादर है। गुरु ज्ञान स्वरूप है, अतः ज्ञान का अनादर ही गुरु का अनादर है। शिष्य द्वारा गुरु के प्रति कृतज्ञता एवं प्रेम प्रकट करना आवश्यक है। कृतघ्नता भयंकर पाप है।

गुरु का यह वैशिष्ट्य है कि वह शिष्य को भी अपने जैसा अथवा अपने से श्रेयान् बना सकता है। गुरु एवं पारस पत्थर में अन्तर बताते हुए कहा गया है-

पारस में अरु संत में बहुत अन्तरो जान।
वह लोहा कंचन करे, वह करै आपु समान।।

पारस पत्थर लोहे को सोना बनाता है, किन्तु अपना पारस नहीं बनाता, किन्तु गुरु शिष्य को अपने समान बना सकता है। इससे गुरु की महत्ता स्पष्ट हो जाती है।

-82/127, मानसरोवर, जयपुर (राज.)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org